

5

जाति और वर्ग

(CASTE AND CLASS)

उपर्युक्त कार्यों के आतारस्त जात न रस्त का सुधृता बनाव रखन, शिक्षा प्रदान करन तथा समाजवादा व्यवस्था को कायम रखने का कार्य भी किया है। इसलिए ही हट्टन लिखते हैं कि जाति-प्रथा ही एक ऐसी सामाजिक प्रथा है जिसका आधार दैवीय शक्ति से भी दृढ़ है।

जाति-प्रथा के दोष अथवा हानियां

(DEMERITS OF CASTE-SYSTEM)

जाति-व्यवस्था ने अनेक महत्वपूर्ण कार्य किये हैं, किन्तु समय के साथ इसमें अनेक दोष उत्पन्न हो गये और आज अधिकांश लोग जाति के उन्मूलन की बात करने लगे हैं। रिजले का मत है कि जाति एक निम्न स्तर का संगठन है जो विकास के मार्ग में बाधक है। डॉ. राधाकृष्णन का मत है कि "दुर्भाग्यवश वही जाति-प्रथा जिसे सामाजिक संगठन को नष्ट होने से रक्षा करने के साधन के रूप में विकसित किया गया था, आज उसी की उन्नति में बाधक बन रही है।" प्रो. वाडिया लिखते हैं, "उपनिषदों का उच्च कोटि का तत्व दर्शन और गीता का कर्म-ज्ञान इस व्यवस्था में अत्याचारों के कारण केवल वाग्जाल बन गया। एक तरफ तो भारत सम्पूर्ण विश्व को एकता का उपदेश देता है और दूसरी ओर उसने एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था को अपनी छाती से चिपटा रखा है जिसने उसकी सन्तानों का निर्ममतापूर्वक अलग-अलग गुटों में विभाजन कर रखा है, उनको अनन्त शताब्दियों के लिए एक-दूसरे से पृथक् कर दिया है।" जाति-प्रथा की हानियां अथवा दोष निम्नांकित हैं :

(1) **श्रमिक की गतिशीलता में बाधक**—चूंकि प्रत्येक जाति का एक परम्परागत व्यवसाय होता है और व्यक्ति को जाति के बाहर के व्यवसायों को चुनने की मनाही होती है, अतः दूसरे व्यवसायों में दक्ष होने पर भी व्यक्ति अपने जातीय व्यवसाय को बदल नहीं सकता।

(2) **श्रमिक की कुशलता में बाधक**—जाति-प्रथा में खान-पान सम्बन्धी अनेक निषेध हैं जिनका कुप्रभाव लोगों के शारीरिक एवं मानसिक दक्षता पर पड़ता है। इसके अतिरिक्त, जाति-अन्तर्विवाह के कारण कई वंशानुक्रम में अनेक दोष उत्पन्न हो जाते हैं। इससे भी लोगों के स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ता है।

(3) **आर्थिक विकास में बाधक**—जाति-प्रथा के कारण उद्योगों में श्रम-विभाजन उचित रूप से लागू न हो पाता। उच्च जातियों के लोग कारखानों में निम्न कार्य नहीं करना चाहते। वे जातीय आधार पर विरोध गुट बनाते हैं, जातिवाद के कारण योग्य व्यक्तियों को आगे बढ़ने का अवसर नहीं मिलता है और अर्थ व्यक्ति उच्च पदों पर पहुंच जाते हैं। ये सभी स्थितियां देश के आर्थिक विकास में बाधक हैं।

(4) **राष्ट्रीय एकता में बाधक**—जाति-व्यवस्था के अन्तर्गत सम्पूर्ण समाज छोटे-छोटे भागों में बंटा है। प्रत्येक जाति राष्ट्रीय हितों के स्थान पर जातीय हितों को प्राथमिकता देती है, जाति-प्रथा ने ही समाज में श्रुआश्रुत एवं ऊंच-नीच की भावना पैदा की है और विभिन्न जातियों के लोगों को परस्पर मिलने नहीं देती है। इस कारण लोगों में राष्ट्रीय एवं हम की भावना का विकास नहीं हो पाया है। जातिवाद की भावना राष्ट्रीय एकीकरण में बाधा उपस्थित की है।

(5) **प्रजातन्त्र विरोधी**—जाति प्रजातन्त्र विरोधी है। प्रजातन्त्र स्वतन्त्रता, समानता एवं भाईचारे की भावना पर आधारित है, जबकि जाति जन्म से ही ऊंच-नीच एवं असमानता पर जोर देती है। अतः ये दोनों एक-दूसरे के विरोधी हैं। आज लोग जाति के नाम पर वोट मांगते हैं और देते हैं, विभिन्न पदों पर जातीय आधार पर नियुक्तियां की जाती हैं। ये सभी स्थितियां स्वस्थ प्रजातन्त्र के विकास के मार्ग में बाधक हैं।

इसमें सम्मिलित होते हैं, (ii) सदस्य एक कठोर सामाजिक नियम द्वारा अपने समूह से बाहर विवाह करने से रोक दिये जाते हैं।" केतकर ने जाति की दो विशेषताओं—जन्मजात सदस्यता एवं जाति अन्तर्विवाह का उल्लेख किया है, किन्तु इसमें जाति की अन्य विशेषताओं का उल्लेख नहीं किया गया है।

ब्रूण्ट के अनुसार, "जाति एक अन्तर्विवाही समूह अथवा अन्तर्विवाही समूहों का संकलन है, जिसका एक सामान्य नाम होता है जिसकी सदस्यता आनुवंशिक होती है, जो सामाजिक सहवास के क्षेत्र में अपने सदस्यों पर कुछ प्रतिबन्ध लगाता है, इसके सदस्य या तो एक सामान्य परम्परागत व्यवसाय को करते हैं अथवा किसी सामान्य आधार पर अपनी उत्पत्ति का दावा करते हैं और इस प्रकार एक समरूप समुदाय के रूप में मान्य होते हैं।" अब तक की परिभाषाओं में ब्रूण्ट की परिभाषा अधिक सही है, किन्तु इसमें एक त्रुटि यह है कि जाति की उत्पत्ति एक सामान्य पूर्वज से बतायी गयी है, जबकि कोई भी जाति अपनी उत्पत्ति किसी एक पूर्वज से नहीं मानती है। **इरावती कर्वे** ने जाति अन्तर्विवाह को इतना अधिक महत्व दिया है कि वे जाति को मूलतः एक अन्तर्विवाही समूह मानती हैं। वे कहती हैं, "जाति वस्तुतः एक विस्तृत नातेदारी समूह है।"

इन परिभाषाओं से स्पष्ट है कि **जाति एक ऐसा सामाजिक समूह है जिसकी सदस्यता जन्म पर आधारित होती है और जो अपने सदस्यों पर खान-पान, विवाह, पेशा और सामाजिक सहवास सम्बन्धी अनेक प्रतिबन्ध लगाने करता है।** भारत में जाति का स्वरूप इतनी विभिन्नता लिये हुए है कि इसकी कोई भी सर्वमान्य परिभाषा करना कठिन है। यही कारण है कि कई विद्वानों ने जाति की परिभाषा देने के बजाय उसकी विशेषताओं का उल्लेख किया है। ऐसे विद्वानों में हट्टन, दत्ता, घुरिये, आदि प्रमुख हैं।

जाति-प्रथा की विशेषताएं

(CHARACTERISTICS OF CASTE-SYSTEM)

एन. के. दत्ता ने जाति की निम्नांकित संरचनात्मक एवं सांस्कृतिक विशेषताओं का उल्लेख किया है :

(1) एक जाति के सदस्यों के बीच अन्तर्विवाह होता है। (2) पत्न्यक जाति में दूसरी जातियों के

(6) निम्न जातियों का शोषण—जाति-प्रथा के अन्तर्गत निम्न जातियों से कठोर श्रम कराया गया। उन्हें गन्दे एवं घृणित कार्य सौंपे गये तथा बदले में बहुत ही कम पारिश्रमिक दिया गया। कई बार तो निम्न जातियों के लोग इनसे बेगार तक लेते रहे हैं।

(7) धर्म परिवर्तन—आर्थिक एवं सामाजिक शोषण से मुक्ति पाने के लिए निम्न जातियों के कई लोग ईसाई एवं मुसलमान बन गये। निम्न जातियों को हिन्दू समाज में हेय दृष्टि से देखा जाता रहा है, किन्तु वे धर्म परिवर्तन कर ईसाई या मुसलमान बन जाते हैं तो उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा में वृद्धि हो जाती है। प्रकाश धर्म-परिवर्तन को प्रोत्साहन मिलता है।

(8) समाज का विभाजन—जाति-व्यवस्था ने हिन्दू समाज को अनेक छोटी-छोटी इकाइयों में बांट दिया है और प्रत्येक इकाई अपने ही हित साधन की चिन्ता करती है, सम्पूर्ण समाज की नहीं।

(9) सामाजिक समस्याओं का जन्म—जाति-व्यवस्था के विवाह सम्बन्धी नियमों ने समाज में बाल-विवाह, दहेज, विधवा-विवाह निषेध, वेमेल विवाह, कुलीन विवाह, आदि की समस्याओं को जन्म दिया है जो आज भी हिन्दू समाज को घुन की तरह खाये जा रही हैं।

(10) अस्पृश्यता—जाति-व्यवस्था ने हिन्दू समाज में अस्पृश्यता को जन्म दिया है। कई जातियों को पूरे से ही नहीं, वरन् उनकी परछाई पड़ने मात्र से ही उच्च जाति का व्यक्ति अशुद्ध हो जाता है। अस्पृश्य जातियों को कई सामाजिक, धार्मिक एवं राजनीतिक अधिकारों से भी वंचित किया गया है।

(11) प्रगति में बाधक—जाति-प्रथा व्यक्ति एवं समाज की प्रगति में भी बाधक रही है। जाति सम्बन्धी नियमों का उल्लंघन करने पर जाति से बहिष्कृत होने के भय के कारण लोग परम्पराओं से चिपके रहते हैं और नवीन आविष्कारों को अपनाने से डरते हैं। अतः वे अपना विकास नहीं कर पाते और सम्पूर्ण देश अन्य देशों की तुलना में पिछड़ जाता है। यहां जाति-व्यवस्था ने लोगों को अकर्मण्य एवं भाग्यवादी बनाने में भी योग दिया है।

(12) स्त्रियों की गिरी हुई दशा—स्त्रियों की समाज में निम्न प्रतिष्ठा एवं गिरी हुई दशा के लिए जाति-प्रथा ही उत्तरदायी है। बाल-विवाह के प्रचलन, विधवा पुनर्विवाह के अभाव तथा स्त्रियों को शिक्षा एवं अन्य अनेक अधिकारों से वंचित कर दिये जाने के कारण समाज में उनकी दशा निम्न रही है। जाति-व्यवस्था के उपर्युक्त दोषों को देखकर ही कई व्यक्ति इसे समूल नष्ट करने की बात करते हैं, किन्तु जाति-व्यवस्था अनेक दृष्टियों से लाभदायक संस्था रही है। इसलिए इसे नष्ट करने के बजाय इसमें सुधार किया जाना चाहिए। मजूमदार व मदान ने उचित ही लिखा है, "इस व्यवस्था की हानिकारक सहवर्ती प्रथाओं—अस्पृश्यता, एक जाति द्वारा दूसरी का शोषण और ऐसी ही अन्य को समाप्त कर देना चाहिए न कि सम्पूर्ण व्यवस्था को; दृढ़ी हुई विपैली अंगुली को काटना चाहिए न कि पूरे हाथ को।"

जाति-व्यवस्था की उत्पत्ति

(ORIGIN OF CASTE SYSTEM)

जाति जैसी जटिल एवं विचित्र व्यवस्था की उत्पत्ति का मतभेद पाया जाता है। जाति सदैव परिवर्तमान रही है।

(3) सामाजिक प्रगति का सम्बन्ध सामाजिक मूल्यों से है। यह एक नैतिक अवधारणा है जबकि सामाजिक परिवर्तन नैतिक दृष्टि से एक तटस्थ प्रक्रिया है जिसका सामाजिक मूल्यों से कोई सम्बन्ध नहीं है।

(4) सामाजिक प्रगति में समाज को लाभ होता है जबकि सामाजिक परिवर्तन से लाभ एवं हानि दोनों ही हो सकते हैं।

(5) प्रगति का सम्बन्ध केवल मानवीय समाज से है जबकि परिवर्तन का सम्बन्ध अन्य समाजों में भी हो सकता है।

(6) सामाजिक प्रगति स्वचालित नहीं होती, उसके लिए प्रयास करने होते हैं जबकि सामाजिक परिवर्तन स्वचालित एवं नियोजित दोनों ही हो सकता है।

इस प्रकार सामाजिक प्रगति सामाजिक परिवर्तन का एक अंग है। यह समाज द्वारा निश्चित, ईच्छित एवं मान्यता प्राप्त दिशा में परिवर्तन है।

- (10) उद्दीविकास का सम्बन्ध सामाजिक मूल्यों से नहीं है जबकि प्रगति का सम्बन्ध सामाजिक मूल्यों से है।
- (11) प्रगति से उत्पन्न होने वाले परिवर्तन मानव कल्याण में वृद्धि करते हैं जबकि उद्दीविकास से होने वाले परिवर्तनों से समाज का हित व अहित दोनों ही हो सकते हैं, अथवा वह मानव हित के प्रति उदारमान भी हो सकता है।

सामाजिक प्रगति एवं सामाजिक परिवर्तन (SOCIAL PROGRESS AND SOCIAL CHANGE)

सामाजिक प्रगति भी सामाजिक परिवर्तन है। सामाजिक परिवर्तन की अनेक प्रक्रियाएं एवं ढंग हैं, उनमें सामाजिक उद्दीविकास, प्रगति, विकास एवं क्रान्ति, आदि प्रमुख हैं। इस सन्दर्भ में यह प्रश्न किया जाता है कि क्या प्रत्येक परिवर्तन प्रगति है? (Is every change progress?) इस प्रश्न का हमारा उत्तर नकारात्मक होगा अर्थात् हम प्रत्येक परिवर्तन को प्रगति नहीं कह सकते। परिवर्तन तो एक तटस्थ प्रक्रिया है, यह अच्छाई व बुराई किसी भी दिशा में हो सकता है। किन्तु जब वह समाज द्वारा निर्धारित मूल्यों की ओर होता है तो उसे हम प्रगति कहेंगे अन्यथा नहीं। किसी परिवर्तन को प्रगति कहें या नहीं इसके लिए हमें परिवर्तन के प्रभावों एवं परिणामों को भी देखना होगा। यदि सामाजिक परिवर्तन निर्धारित लक्ष्यों की ओर है, समाज के लिए लाभप्रद एवं कल्याणकारी है, मानवीय सुख-सुविधाओं में वृद्धि करता है तो उसे हम प्रगति कहेंगे, दूसरे अर्थों में, जो परिवर्तन प्रगति की कसौटियां या मापदण्डों के अनुरूप होता है, उसे ही प्रगति कहा जायेगा अन्यथा नहीं। सामाजिक प्रगति एवं परिवर्तन में निम्नांकित भेदों द्वारा यह बात और अधिक स्पष्ट हो जायेगी :

- (1) सामाजिक प्रगति में उद्देश्य निश्चित होता है, उसी की ओर बढ़ना प्रगति कहलाता है जबकि सामाजिक परिवर्तन का कोई लक्ष्य नहीं होता।
- (2) सामाजिक प्रगति की दिशा निश्चित होती है जबकि सामाजिक परिवर्तन की कोई दिशा तय नहीं है, वह किसी भी दिशा में हो सकता है।

11

सामाजिक नियन्त्रण के साधन, अभिकरण एवं क्रियाविधि

(MEANS, AGENCIES AND MECHANISM OF SOCIAL CONTROL)

सामाजिक नियन्त्रण की व्यवस्था को प्रभावी बनाने के लिए अनेक साधनों एवं अभिकरणों का सहारा

को प्र
सभी
को
करन
इनव
साम
साम
साम
के

SAMSUNG
DUOS

विकास सामाजिक विकास का ही एक अंग है जिस विभिन्न आयामों पर मापना संभव है।
उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि सामाजिक विकास सफलता का विकासोन्मुख है।
है जिसमें निश्चित उद्देश्यों की पूर्ति के लिए नियन्त्रित एवं जागरूक प्रयत्न किये जाते हैं।

सामाजिक परिवर्तन एवं सामाजिक विकास

(SOCIAL CHANGE AND SOCIAL DEVELOPMENT)

सामाजिक परिवर्तन की अनेक प्रक्रियाएं हैं जिनमें से सामाजिक विकास भी एक है। सामाजिक चेतन एवं अचेतन दोनों रूपों में हो सकता है, जबकि विकास एक चेतन प्रक्रिया है। सामाजिक बहुआयामी है, उसके क्षेत्र अनेक हैं, जबकि सामाजिक विकास का सम्बन्ध केवल आर्थिक और से ही है। परिवर्तन नियोजित और अनियोजित दोनों प्रकार से घटित हो सकता है, जबकि विकास रूप से लाया जाता है, इसमें मानवीय प्रयत्न शामिल हैं।

1 बर्टेनोर, समाजशास्त्र, पृ. 299-300।

लोकाचार या रूढ़ियाँ (Mores)

जब जनरीतियों में समूह-कल्याण की भावना जुड़ जाती है तो वह लोकाचार का रूप ग्रहण कर लेती है। लोकाचारों की अपेक्षा अधिक स्थिर होती हैं और उनका उल्लंघन करने पर कठोर दण्ड की व्यवस्था की जाती है। लोकाचार में उचित एवं अनुचित का भाव निहित होता है। लोकाचार सकारात्मक एवं नकारात्मक के होते हैं। सकारात्मक लोकाचार हमें कुछ कार्य करने का निर्देश देते हैं, जैसे सदा सच बोलो, माता-पिता की आज्ञा मानो, ईमानदार बनो, आदि। नकारात्मक लोकाचार हमें कुछ कार्य करने से रोकते हैं, जैसे—चोरी मत करो, झूठ मत बोलो, हिंसा मत करो, आदि। लोकाचारों का पालन को अंकुश दृष्टि से उचित माना जाता है। लोकाचार अनौपचारिक एवं असंगठित नियन्त्रण का साधन है। लोकाचार उल्लंघन करने पर नियन्त्रण की अनौपचारिक शक्तियों जैसे, हान्य, व्यंग्य, आलोचना, आदि का प्रयोग करना पड़ता है। व्यक्ति स्वयं भी इनका उल्लंघन करना अनुचित मानता है क्योंकि ऐसा करने से सामूहिक कल्याण खतरे में पड़ जाता है। लोकाचारों की शक्ति और प्रभाव कानूनों से भी अधिक होता है। सामान्य व्यक्तियों के मन में लोकाचारों से बड़ा कोई न्यायालय नहीं है, तथा सामान्य प्रकृति के समाजों में लोकाचारों के अलावा दूसरे नियमों की आवश्यकता ही महसूस नहीं की जाती। इसका कारण यह है कि लोकाचारों को उचित प्रमाणित करने की कोई आवश्यकता नहीं होती वरन् वे अपनी स्वयं की अचर्य शक्ति से ही जीवित रहते हैं।" इस प्रकार लोकाचार नियन्त्रण के महत्वपूर्ण साधन हैं।

4. प्रचार (Propaganda)

वर्तमान समय में प्रचार भी सामाजिक नियन्त्रण का प्रमुख साधन बनता जा रहा है। व्यक्ति एवं समूह के व्यवहार पर प्रचार द्वारा नियन्त्रण रखा जाता है। प्रचार के लिए अनेक साधनों का उपयोग किया जाता है, जैसे, अखबार, पत्र-पत्रिकाएँ, साहित्य, रेडियो, टेलीविजन, सिनेमा, प्रदर्शनी, मेले, सभा एवं समारोह, आदि। प्रचार के द्वारा अच्छी और बुरी दोनों ही बातों का प्रसार किया जा सकता है। प्रचार के कारण ही हम आज अनेक सामाजिक कुप्रथाओं जैसे, दहेज, बाल-विवाह, छुआछूत, विधवा-विवाह निषेध एवं अन्धविश्वासों से छुटकारा पाने में कुछ सीमा तक सफल हुए हैं। सन्तों, नेताओं एवं महापुरुषों के विचारों का प्रचार कर समाज में एकरूपता एवं नियन्त्रण उत्पन्न किया जाता है। आर्थिक नीतियों का प्रसार करने एवं शिक्षा के प्रति लोगों में जागृति पैदा करने के लिए प्रचार का सहारा लिया जाता है। प्रचार द्वारा लोगों को एक विशेष प्रकार से आचरण करने का सुझाव दिया जाता है।

5. प्रथाएँ (Customs)

प्रथाएँ भी सामाजिक नियन्त्रण का एक महत्वपूर्ण साधन हैं। जब जनरीतियाँ व्यवहार में बहुत अधिक आ जाती हैं, पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तान्तरित होती रहती हैं और सारे समूह अथवा समाज की आदत बन जाती हैं तो वे ही प्रथाओं का रूप ले लेती हैं। गिसबर्ट कहते हैं, "प्रथा व्यवहार का वह स्वरूप है, जो आदत का रूप ले लेता है तथा समाज के अधिकांश सदस्यों द्वारा उसका पालन किया जाता है।" बोगार्डस कहते हैं, "प्रथाएँ समूह के द्वारा स्वीकृत नियन्त्रण की ऐसी विधियाँ हैं जो इतनी सुदृढ़ हो जाती हैं कि उन्हें बिना विचार ही मान्यता दे दी जाती है और इस प्रकार ये एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित होती रहती हैं।" गिन्सबर्ग ने प्रथा में तीन तत्वों का उल्लेख किया है—**पहला**, मनोवैज्ञानिक दृष्टि से प्रथा कुछ बातों में आदत की तरह होती है अर्थात् प्रथा एक ऐसी आदत है जिसका पालन समाज के अधिकांश लोग करते हैं। **दूसरा**, प्रथाएँ आदर्शात्मक एवं बाध्यतामूलक होती हैं अर्थात् इनमें अच्छाई-बुराई के भाव छिपे होते हैं तथा इनका पालन करना नैतिक रूप से आवश्यक माना जाता है। अतः प्रथा को हम नैतिक स्वीकृति-प्राप्त कार्य-प्रणाली कह सकते हैं। **तीसरा**, प्रथा में सामाजिकता पायी जाती है अर्थात् प्रथाएँ व्यक्तिगत व्यवहार नहीं होकर सामूहिक व्यवहार होता है, जिसे समाज की स्वीकृति प्राप्त होती है।

सरल एवं जटिल, प्राचीन एवं आधुनिक सभी समाजों में प्रथाएँ सामाजिक नियन्त्रण का एक अनौपचारिक, अनियोजित, असंगठित एवं सशक्त साधन हैं। वे व्यक्तिगत व सामूहिक व्यवहारों पर नियन्त्रण करती हैं। वे इतनी शक्तिशाली होती हैं कि सामान्य व्यक्ति इनके उल्लंघन की हिम्मत नहीं कर सकता। शेक्सपियर इन्हें 'क्रूर' बताता है तथा मॉण्टेन इन्हें 'गुस्सेबाज' और 'धूर्त स्कूल मास्टरनी' (Violent and Treacherous School mistress) कहते हैं। वेकन कहते हैं, "प्रथाएँ मनुष्य के जीवन की प्रमुख न्यायाधीश हैं।" लॉक ने इनकी शक्ति को प्रकृति से

सामाजिक नियन्त्रण की व्यवस्था को प्रभावी बनाने के लिए अनेक साधनों एवं अभिकरणों का सहारा लिया जाता है। सामान्यतः साधन एवं अभिकरण में कोई भेद नहीं किया जाता है, किन्तु इनमें पर्याप्त अन्तर है। अभिकरण का तात्पर्य उन समूहों, संगठनों एवं मत्ता से है जो नियन्त्रण को समाज पर लागू करते हैं। नियमों को लागू करने का माध्यम अभिकरण कहलाता है। उदाहरण के लिए, परिवार, राज्य, शिक्षण संस्थाएं एवं अनेक संगठन जो प्रथाओं, परम्पराओं, नियमों और कानूनों को लागू करने वाले मूर्त माध्यम हैं, अभिकरण कहे जायेंगे। साधन (Means) से तात्पर्य किसी विधि या तरीके से है जिसके द्वारा कोई भी अभिकरण या एजेंसी अपनी नीतियों और आदेशों को लागू करती है। प्रथा, परम्परा, लोकाचार, हास्य, व्यंग्य, प्रचार, जनमत, कानून, पुस्तकें एवं दण्ड, आदि सामाजिक नियन्त्रण के साधन हैं। सभी अभिकरण एवं साधन मिलकर सामाजिक नियन्त्रण की व्यवस्था को कायम रखते हैं। हम यहां सामाजिक नियन्त्रण के विभिन्न साधनों एवं अभिकरणों का उल्लेख करेंगे।

1. परिवार (Family)

नियन्त्रण के अनौपचारिक, असंगठित और प्राथमिक साधनों में परिवार का स्थान सर्वोपरि है। परिवार व्यक्ति के समाजीकरण में प्रमुख भूमिका निभाता है। समाजीकरण के द्वारा परिवार व्यक्ति को सामाजिक विश्वासों, मूल्यों, आदर्शों, प्रथाओं एवं नियमों से परिचित कराता है। व्यक्ति स्वतः ही सामाजिक नियमों को आत्मसात कर उनके अनुरूप आचरण करने लगता है जिससे कि समाज में नियन्त्रण बना रहता है। परिवार ही बच्चों को आदर्श नागरिकता का पाठ पढ़ाता है और उनमें सद्गुणों का विकास करता है। प्राथमिक मूल्यों होने के कारण परिवार के सदस्यों से व्यक्ति का घनिष्ठ सम्बन्ध होता है और वह उसके प्रत्यक्ष सम्पर्क में आता है। परिवार के सदस्य, माता-पिता, भाई-बहिन, पति-पत्नी एवं बच्चे प्रेम, प्रशंसा, निन्दा, अपमान, डांट-फटकार और उपेक्षा के द्वारा व्यक्ति के व्यवहार को नियन्त्रित करते हैं और उसे सामाजिक नियमों को मानने के लिए बाध्य करते हैं। अपने प्रियजनों एवं रिश्तेदारों की उपेक्षा व्यक्ति सहन नहीं कर सकता क्योंकि वे ही तो दुर्दिन में उसके सहायक होते हैं, उसके अपने होते हैं तथा सबसे अधिक विश्वसनीय एवं उसके पर अंकुश रखकर समाज में नियन्त्रण बनाए रखता है।

2. जनरीतियां (Folkways)

समनर कहते हैं कि जनरीतियां प्राकृतिक शक्तियों के समान होती हैं जिनका पालन "व्यक्ति अपने रूप से करता है।" मैकाइवर के अनुसार, "समाज में व्यवहार करने की स्वीकृत एवं मान्यता-प्राप्त विभिन्न जनरीतियां कहलाती हैं।" जनरीतियां भी सामाजिक नियन्त्रण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। इनका स्वतः होता है और बार-बार दुहराने से ये विकसित होती हैं। इनकी उत्पत्ति जान-बूझकर किए गए प्रयत्नों से ही होती है। चूंकि समाज के सभी लोग उनका पालन कर रहे हैं, अतः दूसरे व्यक्ति भी उन्हें स्वीकार करते हैं। बिना सोचे-विचारे और अचेतन रूप में ही व्यक्ति जनरीतियों का पालन करता है। इनका उल्लंघन करने पर समाज द्वारा निन्दा व आलोचना की जाती है, व्यक्ति की हंसी उड़ायी जाती है और उस पर दण्ड किया जाता है। इस प्रकार जनरीतियां अधिक शक्तिशाली होती हैं, अतः इनका उल्लंघन करना सरल नहीं है।

भी महान् बताया है। शपेरा ने कहा है कि आदिम समाजों में प्रथाओं के प्रति समर्पण स्वतः स्फूर्त होता है। पालन से व्यक्ति को सामाजिक सम्मान व भौतिक लाभ मिलते हैं। किन्तु मैलिनोवस्की की मान्यता है कि समाजों की तरह ही आदिम समाजों में भी व्यक्ति व्यक्तिगत लाभ के कारण ही प्रथाओं का पालन करता है।

6. जनमत (Public Opinion)

जनमत भी सामाजिक नियन्त्रण का एक महत्वपूर्ण अनीपचारिक साधन है। बोटोमोर कहते हैं, "जनमत व्यक्तियों के व्यवहारों को प्रतिबन्धित व निर्देशित करता है।" आदिम एवं आधुनिक सभी समाजों में जनमत लोगों के व्यवहारों पर अंकुश रखता है। सभ्य समाजों में तो जनमत सरकार की नीतियों, संविधानों, सामाजिक व्यवहार एवं समूहों पर अंकुश रखने वाली एक महान् सामाजिक शक्ति है। यदि प्रथाओं को 'निरंकुश राज्य' की तरह समाज पर नियन्त्रण रखती है तो जनमत अनजाने ही व्यक्ति को समाज के आचरण करने की प्रेरणा देता है। दुर्खीम, मैलिनोवस्की एवं अनेक अन्य मानवशास्त्रियों ने आदिम समाजों में सामाजिक नियन्त्रण बनाए रखने में जनमत की महत्वपूर्ण भूमिका का उल्लेख किया है। प्रजातन्त्र समाजों में जनमत को राज्य, सरकार, संघों एवं व्यक्तियों पर नियन्त्रण रखने में अत्यधिक महत्वपूर्ण माना जाता है।

7. हास्य तथा व्यंग (Humour and Ridicule)

हास्य और व्यंग के द्वारा प्राचीन समय से ही सामाजिक नियन्त्रण रखा जाता रहा है। व्यक्ति के व्यवहारों पर हास्य एवं व्यंग द्वारा अप्रत्यक्ष एवं मधुर रूप से नियन्त्रण रखा जाता है। व्यक्ति के समाज-विरोधी व्यवहारों पर कविता, साहित्य एवं कला के द्वारा मार्मिक रूप से व्यंग किया जाता है, व्यक्ति की मजाक उड़ाने का प्रयत्न है जिससे दोषी व्यक्ति अपने व्यवहारों के प्रति जागरूक हो जाता है और समाज-विरोधी व्यवहारों को समाज के अनुरूप व्यवहार करने लगता है।

8. दण्ड एवं पुरस्कार (Punishment and Reward)

दण्ड एवं पुरस्कार सामाजिक नियन्त्रण के महत्वपूर्ण साधन हैं। यदि व्यक्ति समाज-विरोधी कार्य करता है और सामाजिक नियमों की अवहेलना करता है तो समाज उसे दण्ड देता है जिससे कि वह व्यक्ति उन गलतियों को न दोहराए। दण्ड के अनेक रूप हैं जो आंखें दिखाने, डराने, धमकाने, डांटने, सजा देने करने तथा जुमाने व जेल से लेकर मृत्यु-दण्ड तक हो सकते हैं।

दूसरी ओर यदि मानव समाज द्वारा मान्य व्यवहारों को करता है तो उसे पुरस्कार दिया जाता है। पुरस्कार चुम्बन, प्यार, प्रशंसा, धन्यवाद, पदक, उपाधि से लेकर किसी भौतिक वस्तु व सम्पत्ति के रूप में हो सकता है। कई बार लोग पुरस्कार पाने के लिए ही सामाजिक नियमों का पालन करते हैं। पुरस्कारों के कारण व्यक्ति की कार्यकुशलता में वृद्धि होती है।

9. नेता (Leader)

नेता सामाजिक नियन्त्रण के प्रभावशाली साधन होते हैं। नेतृत्व एवं नेता के अनेक प्रकार भी हो सकते हैं। राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, सैनिक, परम्परावादी, चमत्कारिक एवं प्रजातन्त्रवादी सभी नेता समाज में किसी-न-किसी रूप में नियन्त्रण बनाए रखते हैं। दुर्खीम उन्हें सामुदायिक जीवन के प्रतिनिधि मानते हैं। इसलिए उनका प्रभाव उनके अनुयायियों पर अधिक होता है। नेता लोग अपने आचरण, चरित्र, बुद्धि, परिश्रम एवं सूझ-बूझ से लोगों के व्यवहारों को एक निश्चित दिशा प्रदान करते हैं। हिटलर, मुस्लिमों के नेता गांधी, नेहरू, सुभाष, भगतसिंह, चन्द्रशेखर, आदि नेताओं ने क्रान्ति एवं शान्ति के समय लोगों को नेतृत्व प्रदान किया। लोगों ने उनके सुझावों एवं आदेशों का पालन करके अपने दायित्व को निभाया। समाज के नियन्त्रण में नेतृत्व के महत्व को बताते हुए गिलिन एवं गिलिन लिखते हैं, "सामाजिक नियन्त्रण में एक चरण शायद प्रभावशाली व्यक्तियों द्वारा ही उठाया गया है। नेतृत्व और अधीनता पशु-जीवन में भी मिलते हैं। 'महापुरुष' सदा की ही भांति आज भी समाज में अपनी भूमिका अदा करता आ रहा है। यद्यपि आधुनिक प्रजातन्त्र ने उसे सेना के निर्देशक के स्थान पर उद्योग, शिक्षा, कला तथा विज्ञान के निर्देशक का नया रूप प्रदान कर दिया है।"

10. सामाजिक नियन्त्रण में कानून की भूमिका (महत्व)

सामाजिक नियन्त्रण में कानून की भूमिका अथवा महत्व को कई विद्वानों ने स्वीकार किया है। रॉस लिखते हैं, "कानून सामाजिक नियन्त्रण का सबसे अधिक विशेषीकृत और अत्यधिक स्पष्ट इंजन है जिसको स्वयं समाज

सम्पत्ति एवं मानसिक शक्ति, लम्बी आयु, शारीरिक एवं मानसिक रोग, सन्तान का मात्रा में भिन्नता पायी जाती है। एक व्यक्ति किस प्रकार के मकान एवं पड़ोस में रहेगा, किस प्रकार के मनोरंजन के साधन अपनायेगा, माता-पिता से उसके सम्बन्ध कैसे होंगे, किस प्रकार की शिक्षा एवं पुस्तकों का वह प्रयोग करेगा, यह उसके सामाजिक स्तर पर निर्भर करता है। प्रत्येक स्तर के जीवन अवसर एवं शैली में भिन्नता पायी जाती है।

ट्यूमिन की मान्यता है कि ये पांच विशेषताएं ऐसी हैं जिनके आधार पर समाज में स्त्रीकरण के अध्ययन के महत्व को सिद्ध किया जा सकता है।

सामाजिक स्त्रीकरण के आधार (BASES OF SOCIAL STRATIFICATION)

स्त्रीकरण प्रत्येक समाज में पाया जाता है, किन्तु उसके आधार समान नहीं हैं। फिर भी विद्वानों ने कुछ सामान्य आधारों का उल्लेख किया है। पारसनस ने व्यक्ति की प्रस्थिति निर्धारित करने वाले छः कारकों का उल्लेख किया है जो स्त्रीकरण को भी तय करते हैं। वे हैं—नातेदारी समूह की सदस्यता, व्यक्तिगत विशेषताएं, अर्जित उपलब्धियां, द्रव्यजात (Possession), सत्ता तथा शक्ति। सोरोकिन तथा वेबर स्त्रीकरण के प्रमुख तीन आधारों—आर्थिक, राजनीतिक एवं व्यावसायिक का उल्लेख करते हैं जबकि कार्ल मार्क्स केवल आर्थिक आधार को ही महत्वपूर्ण मानते हैं। इस आधार पर समाज में दो प्रकार के वर्ग बनते हैं : पूंजीपति एवं श्रमिक। स्त्रीकरण के सभी आधारों को हम प्रमुख रूप से दो भागों में बांट सकते हैं—(1) प्राणीशास्त्रीय आधार, एवं (2) सामाजिक-सांस्कृतिक आधार।

(1) प्राणीशास्त्रीय आधार (Biological Basis)—समाज में व्यक्तियों एवं समूहों की उच्चता एवं निम्नता का निर्धारण प्राणीशास्त्रीय आधारों पर भी किया जाता है। प्रमुख प्राणीशास्त्रीय आधारों में हम लिंग, आयु, प्रजाति एवं जन्म, आदि को ले सकते हैं।

(i) लिंग—लिंग के आधार पर स्त्री और पुरुषों के रूप में समाज का स्त्रीकरण सबसे प्राचीन है। लगभग सभी समाजों में पुरुषों की स्थिति स्त्रियों से ऊंची मानी जाती रही है। कई पद ऐसे हैं जो केवल पुरुषों के लिए ही निर्धारित हैं जैसे सेना में स्त्रियों को नहीं लिया जाता, परम्परा के अनुसार अमरीका का राष्ट्रपति कोई भी स्त्री नहीं बन सकती यद्यपि संवैधानिक रूप से ऐसी कोई अड़चन नहीं है।

(ii) आयु—प्रत्येक समाज में कई पद ऐसे होते हैं जो एक निश्चित आयु के व्यक्तियों को ही प्रदान किये जाते हैं। आयु के आधार पर समाज में प्रमुख चार स्तर—शिशु, किशोर, प्रौढ़ और वृद्ध पाये जाते हैं। सामान्यतः महत्वपूर्ण पद बड़ी आयु के लोगों को प्रदान किये जाते हैं। भारत में परिवार, जाति एवं ग्राम पंचायत के मुखिया का पद वयोवृद्ध व्यक्ति को ही दिया जाता रहा है। यह माना जाता है कि आयु और अनुभव का घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसलिये उत्तरदायित्व के कार्य अनुभवी एवं वयोवृद्ध व्यक्तियों को सौंपे जाते हैं।

(iii) प्रजाति—प्रजाति के आधार पर सामाजिक स्त्रीकरण वहां देखा जा सकता है जहां एकाधिक प्रजातियां साथ-साथ रहती हैं। जिस प्रजाति के लोग शासन एवं सत्ता में होते हैं तथा सम्पन्न होते हैं, वह प्रजाति अपने को दूसरी प्रजातियों से श्रेष्ठ मानती है। अमरीका व अफ्रीका में गोरी प्रजाति ने काली प्रजाति से अपने

मैलिनोवस्की लिखते हैं कि सामाजिक नियन्त्रण में कानून की शक्ति उसके विभिन्न कार्यों के अनुसार है। उसके अनुसार, "कानून का मौलिक कार्य व्यक्ति के प्राकृतिक उद्देशों और मूल प्रवृत्तियों के प्रसारण को कम करना अथवा एक समाजीकृत व्यवहार को प्रोत्साहन देना है। कानून का कार्य व्यक्तियों के बीच एक प्रकार सहयोग पैदा करना है जिससे वे सामान्य लक्ष्यों को पाने के लिए अपने स्वयं के स्वार्थों का बलिदान कर सकें।"

सोव्की पाण्ड ने कानून द्वारा सामाजिक नियन्त्रण बनाए रखने में उसकी भूमिका को तीन भागों में विभाजित किया है—(1) शक्ति के व्यवस्थित प्रयोग द्वारा सामाजिक सम्बन्धों में समायोजन स्थापित करना एवं आचरणों को व्यवस्था बनाए रखना। (2) समाज के विवादों को सुलझाने के लिए समाज द्वारा स्वीकृत आदर्शों पर आधारित सिद्धान्तों को लागू करना। (3) प्रशासनिक ढांचे को दृढ़ता प्रदान करना।

कानून समाज में दो प्रकार से नियन्त्रण रखता है—सकारात्मक एवं नकारात्मक तरीके से। नकारात्मक शक्ति में कानून कुछ कार्यों को करने के लिए मना करता है और ऐसा न करने पर दण्ड की व्यवस्था करता है। नकारात्मक प्रकृति में कुछ कार्यों को करने का निर्देश दिया जाता है, तथा उसके लिए पुरस्कार, पदक, सम्मान-पत्र, आदि की व्यवस्था की जाती है। सामाजिक नियन्त्रण में कानून की भूमिका को विभिन्न विन्दुओं के अन्दर हम इस प्रकार प्रकट कर सकते हैं :

(1) **व्यक्ति के व्यवहारों पर नियन्त्रण**—कानून वैयक्तिक एवं सामूहिक दोनों ही स्तरों पर व्यक्ति का नियन्त्रण करता है। व्यक्ति के व्यवहार पर अंकुश रखने के लिए अनेक नियम और अधिनियम राज्य द्वारा बनाए जाते हैं ताकि वह अपने स्वार्थ के कारण अन्य लोगों के हितों को चोट नहीं पहुंचाए एवं समाज में व्यवहार करे। सड़क पर चलने, बस, रेल, वायुयान एवं अन्य वाहनों में यात्रा करने, शिक्षा संस्था में प्रवेश करने, सम्मान एवं सम्पत्ति बेचने एवं खरीदने, आदि सभी के सम्बन्ध में व्यक्ति को कानूनों का पालन करना पड़ता है। कानून व्यक्ति को कुछ मौलिक अधिकार भी प्रदान करता है। इन अधिकारों को हनन करने वाले व्यक्ति को कानून द्वारा दण्ड देने की भी व्यवस्था होती है।

(2) **पारिवारिक जीवन पर नियन्त्रण**—परिवार से सम्बन्धित भी अनेक कानून पाए जाते हैं जो पारिवारिक जीवन को नियन्त्रित करते हैं। उदाहरण के लिए, विवाह, सम्पत्ति उत्तराधिकार, गोद लेने से सम्बन्धित कानून, आदि पारिवारिक जीवन को व्यवस्थित एवं नियन्त्रित करने के लिए ही बनाए गए हैं। भारत में भी परिवार एवं विवाह से सम्बन्धित अनेक अधिनियम बनाए गए हैं जिनका उद्देश्य सदस्यों पर नियन्त्रण रखना ही है। इन अधिनियमों में से कुछ अधिनियम जैसे, हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955; बाल-विवाहनिरोधक अधिनियम, 1929; विधवा पुनर्विवाह अधिनियम, 1856; हिन्दू स्त्री सम्पत्ति उत्तराधिकार अधिनियम, 1956; दहेज निरोधक अधिनियम, 1961; आदि हैं।

(3) **सामाजिक जीवन पर नियन्त्रण**—कानूनों का कार्य सामाजिक जीवन को नियन्त्रित करना भी है। इस सन्दर्भ में भारत में बने कई कानूनों का उल्लेख किया जा सकता है। 1955 में अस्पृश्यता अपराध अधिनियम, 1929 में सती-प्रथा निषेध कानून और 1976 में नागरिक अधिकार संरक्षण कानून पारित कर भारत सरकार ने सामाजिक जीवन को नियन्त्रित ही किया है। इनका उद्देश्य सार्वजनिक जीवन में पाया जाने वाला दुराचरित मिटाना, अमानुषिक अत्याचार को रोकना एवं व्यक्ति के अधिकारों की रक्षा करना है। सभा, अखण्ड, मेलें एवं सार्वजनिक स्थानों एवं अवसरों पर हम किस प्रकार का आचरण करेंगे, इस सन्दर्भ में कानून हमारा मार्ग-दर्शन करते हैं एवं हम पर नियन्त्रण रखते हैं।

(4) **आर्थिक जीवन पर नियन्त्रण**—कानून हमारे आर्थिक जीवन, आर्थिक संस्थाओं एवं कार्य-कलापों को भी नियन्त्रित करते हैं। बैंक में लेन-देन, सम्पत्ति बेचने-खरीदने, व्यवसाय करने, उद्योग प्रारम्भ करने, सेवा कार्य करने, पेंशन, वीमा, आदि सभी से सम्बन्धित नियम पाए जाते हैं। सम्पत्ति कर, आय कर, बिक्री कर, मृत्यु कर, आदि के नियमों के अनुसार ही व्यक्ति को भुगतान करना होता है। इस प्रकार हमारा आर्थिक जीवन भी कानूनों से बंधा हुआ है।

(5) **राजनीतिक जीवन पर नियन्त्रण**—कानून व्यक्ति के राजनीतिक जीवन को भी नियन्त्रित करते हैं एवं हमें राजनीतिक चेतना एवं कर्तव्य बोध की भावना पैदा करते हैं। संविधान द्वारा राज्य के नागरिकों को कुछ मौलिक अधिकार प्रदान किए जाते हैं। साथ ही व्यक्ति से भी यह अपेक्षा की जाती है कि वह राज्य के प्रति अपने दायित्वों का निर्वाह करे। प्रजातन्त्र में तो राज्य लोगों को कानून द्वारा मत देने, चुनाव लड़ने, प्रचार करने, सरकार

Unit-IV
Function and Feasibility
Social Stratification
Social Control
Social Change

को श्रेष्ठ घोषित किया है और उसे अनेक सुविधाएं एवं विशेषाधिकार प्राप्त हैं। अमरीका का राष्ट्रपति नीग्रो प्रजाति का कोई व्यक्ति नहीं बन सकता।

(iv) **जन्म**—जन्म भी सामाजिक स्तरीकरण उत्पन्न करता है। जो लोग उच्च कुल, वंश एवं जाति में जन्म लेते हैं, वे अपने को दूसरों से श्रेष्ठ मानते हैं।

(v) **शारीरिक व बौद्धिक कुशलता**—वर्तमान समय में व्यक्ति की प्रस्थिति एवं स्तर का निर्धारण उसकी शारीरिक एवं मानसिक कुशलता, योग्यता एवं क्षमता के आधार पर होने लगा है। जो लोग अकुशल, पागल, क्षीणकाय, आलसी एवं अयोग्य होते हैं, उनका स्तर उन लोगों से नीचा होता है जो बुद्धिमान, परिश्रमी, दृढ़-पुष्ट एवं कुशल होते हैं। साम्यवादी देशों में भी इन गुणों के आधार पर स्तरीकरण देखा जा सकता है।

(2) **सामाजिक-सांस्कृतिक आधार (Socio-cultural Basis)**—सामाजिक स्तरीकरण प्राणीशास्त्रीय आधारों पर ही नहीं बरन् अनेक सामाजिक-सांस्कृतिक आधारों पर भी पाया जाता है। उनमें से प्रमुख इस प्रकार हैं :

(i) **सम्पत्ति**—सम्पत्ति के आधार पर भी समाज में स्तरीकरण किया जाता है। आधुनिक समाजों में ही नहीं बरन् आदिम समाजों में भी सम्पत्ति के आधार पर ऊंच-नीच का भेद पाया जाता है। समाज में वे लोग ऊंचे माने जाते हैं जिनके पास अधिक सम्पत्ति होती है। वे सभी प्रकार की विलासिता एवं सुख-सुविधाओं की वस्तुएं खरीदने की क्षमता रखते हैं। इसके विपरीत, गरीब तथा सम्पत्तिहीन की स्थिति निम्न होती है। सम्पत्ति के घटने एवं बढ़ने के साथ-साथ समाज में व्यक्ति का स्तर भी घटता-बढ़ता जाता है।

(ii) **व्यवसाय**—व्यवसाय भी सामाजिक स्तरीकरण का प्रमुख आधार है। समाज में कुछ व्यवसाय सम्मानजनक एवं ऊंचे माने जाते हैं तो कुछ निम्न एवं घृणित। डॉक्टर, इंजीनियर, प्रशासक, प्राध्यापक, आदि का पेशा, बाल काटने, कपड़े धोने और चमड़े का काम करने वालों के पेशों से श्रेष्ठ एवं सम्माननीय माना जाता है। अतः इन पेशों को करने वालों की स्थिति भी सामाजिक संस्तरण में ऊंची होती है।

(iii) **धार्मिक ज्ञान**—धर्म प्रधान समाजों में धर्म भी स्तरीकरण उत्पन्न करता है। जो लोग धार्मिक कर्मकाण्डों में संलग्न होते हैं, धार्मिक उपदेश देते हैं एवं धर्म के अध्ययन में रत रहते हैं, उन्हें सामान्य लोगों से ऊंचा माना जाता है। भारत में पण्डे-पुजारियों, धार्मिक गुरुओं, साधु-सन्तों एवं ब्राह्मणों की सामाजिक स्थिति उनके धार्मिक ज्ञान और धर्म से सम्बन्धित होने के कारण ही ऊंची रही है। वर्तमान में धर्म के महत्व के घटने के साथ-साथ स्तर निर्धारण में इसका प्रभाव भी कमजोर होता जा रहा है।

(iv) **राजनीतिक शक्ति**—सत्ता एवं अधिकारों के आधार पर भी समाज में संस्तरण पाया जाता है। जिन लोगों के पास सैनिक शक्ति, सत्ता और शासन की वागडोर होती है, उनकी स्थिति उन लोगों से ऊंची होती है जो सत्ता एवं शक्तिविहीन होते हैं। शासक और शासित का भेद सभी समाजों में पाया जाता है।

सामाजिक स्तरीकरण के स्वरूप (प्रकार)

(FORMS OF SOCIAL STRATIFICATION)

बोदोमोर ने मानव इतिहास में प्रचलित सामाजिक स्तरीकरण के प्रमुख चार स्वरूपों—दास प्रथा, जागीरें,